

जैन एवं हिन्दू धर्म में परमतत्त्व की अवधारणा

प्रेम सुमन जैन

भारतीय धर्मों का प्रमुख लक्ष्य जीवन के दुःखों से अन्तिम रूप से छुटकारा पाना है। अतः वे जीवन में परम शुभ—Summun Bonum की प्राप्ति का प्रयत्न करते देखे जाते हैं। सुख की अनुभूति पूर्ण स्वतन्त्रता में ही हो सकती है, अज्ञान के क्षेत्र से ज्ञान के क्षेत्र में जाने से हो सकती है, अतः भारतीय चिन्तक आत्म-ज्ञान के द्वारा उस परमतत्त्व को जानने की प्रेरणा देते हैं, जो बन्धनों से सर्वथा मुक्त है और जिसमें सभी प्रकार के दुःखों का अभाव है। ऐसा परमतत्त्व विभिन्न नामों से जैन धर्म एवं अन्य भारतीय धर्मों में वर्णित किया गया है। उनमें मोक्ष, निर्वाण, परमात्मा, ब्रह्म आदि नाम अधिक प्रचलित हैं। परम तत्त्व के लिए प्रचलित विभिन्न पारिभाषिक शब्दों में क्या समानताएँ हैं, यह जानने के लिए जैन धर्म और हिन्दू धर्म की दृष्टि से आत्मा, मोक्ष और परमात्मा के स्वरूप पर चिन्तन करना आवश्यक है। आत्मा के विवेचन द्वारा सब कुछ जानने की कुंजी प्राचीन ग्रन्थों में प्रदान की गयी है। आत्मा के एक तत्त्व को जान लेने से सब का ज्ञान हो जाता है। यह सब का ज्ञान ही मोक्ष है और जो मुक्त आत्मा है वही परमतत्त्व है, परमात्मा है, ब्रह्म है।

परमतत्त्व की अवधारणा का विकास नैतिक और आध्यात्मिक जीवन के आदर्श के रूप में हुआ है। प्रायः सभी भारतीय धर्मों में परम देवतत्त्व के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। भले ही उसके नामों में भिन्नता दृष्टिगत होती है, किन्तु उसके स्वरूप में प्रायः समानता है। तभी एक जैन कवि यह कहता है कि “शैव जिसे “शिव” नाम से पूजते हैं, वेदान्ती जिसे “ब्रह्म” कहते हैं, बौद्धों ने जिसे “बुद्ध” कहा है, नैयायिक जिसे “कर्ता” कहते हैं, जैन धर्म के अनुयायी जिसे “अर्हत्” कहते हैं और मीमांसक जिसे “कर्म” कहते हैं, जिसे तीनों लोकों का स्वामी एवं “हरि” कहा जाता है वह हमें इच्छित फल प्रदान करें।” यही बात आचार्य अभिनवगुप्त ने भी कही है कि दार्शनिकों में परमसत्ता के नामों का विवाद है, मूल तत्त्व का नहीं। हिन्दू धर्म के अन्य ग्रन्थों में भी यही भावना व्यक्त की गयी है। इस परमसत्ता, परमात्मा या ब्रह्म का वास्तविक ज्ञान मोक्ष-प्राप्ति के उपरान्त ही होता है, ऐसा अधिकांश भारतीय दार्शनिक मानते हैं। अतः परमसत्ता, मोक्ष और निर्वाण प्रायः एक ही लक्ष्य के विभिन्न नाम हैं।

मोक्ष-सम्बन्धी समानताएँ :

मोक्ष के स्वरूप का विकास भारतीय धर्मों में क्रमशः हुआ है। चार्वाक ने शरीर के अन्त को ही मोक्ष माना। न्याय-वैशेषिक, पूर्वमीमांसा और वैभाषिकों ने आत्मा के आगन्तुक धर्मों - चेतना और आनन्द आदि की मुक्ति को ही मोक्ष स्वीकार किया। सौत्रान्तिक बौद्धों ने सत्ता की अभिव्यक्तियों के निरोध को ही “निर्वाण” कहा है। सांख्य पुरुष की सत्ता और चेतन अवस्था के वास्तविक स्वरूप को जान लेने को ही कैवल्य मोक्ष कहते हैं। वे उसमें आनन्द की अनुभूति नहीं मानते। जैन दार्शनिक आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति को मोक्ष मानते हैं। उसमें मुक्त जीव अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और अनन्त वीर्य का स्वामी होता है। ऐसे मुक्त जीव अनन्त होते हैं। वेदान्त दर्शन के अनुसार मुक्त आत्मा ईश्वर के समान बनकर उसके शरीर में प्रवेश कर उससे एकाकार का अनुभव करती है। ज्ञान और आनन्द के उपभोग में मुक्त आत्मा ईश्वर के समान होती है। शंकर के वेदान्त दर्शन में मुक्त जीव परमतत्त्व ब्रह्म से अभिन्न हो जाता है। इन सभी दर्शनों की मुक्ति प्रक्रिया का यदि सूक्ष्म विवेचन किया जाय तो ज्ञात होता है कि

प्रायः सभी ने मुक्ति की प्राप्ति के लिए अज्ञान को दूर कर आत्म-ज्ञान को प्राप्त करना आवश्यक माना है और मुक्ति प्राप्ति के बाद जीवन-मरण के चक्र और दुःखों का अन्त स्वीकार किया है* ।

भारतीय दर्शनों में मुक्ति के सम्बन्ध में एक समानता यह भी मिलती है कि प्रायः सभी ने जीवन-मुक्ति और विदेहमुक्ति इन दो को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है । गीता और वेदान्त की परम्परा में राग-द्वेष और आसक्ति की पूर्ण रूप से समाप्ति पर जीवन मुक्ति और ऐसे साधक के शरीर छूट जाने पर विदेह मुक्ति की प्राप्ति माना गया है । बौद्ध दर्शन में तृष्णा के क्षय के बाद सोपाधिशेष निर्वाण धातु की प्राप्ति होती है और शरीर छूटने के बाद अनुपाधिशेष निर्वाण धातु की* । जैन दर्शन में राग-द्वेष से मुक्ति को भाव मोक्ष और शरीर छूटने के बाद की मुक्ति को द्रव्य मोक्ष कहा गया है । गीता में जीवन-मुक्त अवस्था के साधक को "स्थितप्रज्ञ" कहा गया है और वेदान्त में उसे "जीवात्मा" नाम दिया गया है । बौद्ध दर्शन में जीवन मुक्त साधक "अर्हत" केवली, उपशान्त आदि नामों से जाना जाता है । जैन दर्शन में ऐसे जीवन मुक्त साधक को "अर्हत", वीतराग, केवली आदि कहा गया है । ये सभी साधक राग-द्वेष से रहित, समता-धारक एवं जन्म-मरण के चक्र को समाप्त करने वाले कहे गये हैं । इस अवस्था से आगे की मुक्त आत्माएँ, जो सर्वथा कर्मों से मुक्त हो गयी हैं और जिन्होंने अपने शरीर आदि सभी सांसारिक सुख त्याग दिये हैं, गीता में "परमात्मा", वेदान्त में "ब्रह्म", बौद्ध दर्शन में "बुद्ध" "निर्वाण" एवं जैन दर्शन में "सिद्ध", "परमात्मा" आदि नामों से जानी जाती हैं । ऐसी स्थिति में साधक और साध्य का अभेद हो जाता है* । इस अवस्था में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान में कोई अन्तर नहीं रह जाता । इस मुक्त अवस्था को प्राप्त आत्मा अन्य साधकों के लिए उपास्य, ईश्वर, परमात्मा बन जाता है । जैन ग्रन्थ समाधिशतक में मुक्तात्मा को शुद्ध स्वतन्त्र, परिपूर्ण, परमेश्वर, अविनश्वर सर्वोच्च, सर्वोत्तम, परमविशुद्ध और निरंजन कहा गया है* । सामान्यतया यही और इसी तरह के पद ईश्वर या परमेश्वर के साथ व्यवहृत किये जाते हैं । इस तरह ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में भले ही भारतीय मनीषा ने प्राकृतिक शक्तियों, राजा, वीर पुरुष, धर्मगुरु आदि में अपने से अधिक गुणों और शक्ति का अनुभव कर उन्हें ईश्वर की संज्ञा प्रदान की थी, किन्तु बाद में समाधि और ज्ञान को महत्त्व देने वाले चिन्तकों ने आत्मा के पूर्णरूप से विकसित स्वरूप को ही मोक्ष एवं परमात्मा, देवाधिदेव, ब्रह्म आदि नाम दिये हैं ।

परमात्मा का महत्त्व :

हिन्दू धर्म के विभिन्न विचारकों ने ईश्वर की आवश्यकता के अनेक कारण प्रतिपादित किये हैं । वैदिक दर्शन में परमेश्वर वेदरूपी वृक्ष का फल है* । उपनिषदों में ईश्वर समस्त ब्रह्माण्ड के संचालक के रूप में स्वीकृत हैं* । जगत् के प्राण-स्वरूप उसी को ब्रह्म कहा गया है । पूर्वमीमांसा में शब्दमात्र ही देवता है । अतः वहाँ वैदिक मन्त्रों को ही देवत्व प्राप्त है । सांख्य एवं योग दर्शनों में कर्मफल ही प्रधान है । अतः वहाँ ईश्वर उपास्य के रूप में तो स्वीकृत है, कर्म-फल प्रदाता के रूप में नहीं । न्याय, वैशेषिक और वेदान्त दर्शनों में ईश्वर की आवश्यकता संसार के व्यवस्थापक एवं कर्म-नियामक के रूप से स्वीकार की गयी है । गीता में ईश्वर के दोनों रूप स्वीकृत हैं । वह कर्म-नियम के ऊपर है और भक्तों के लिए कारुणिक है* । किन्तु वहाँ यह भी कहा गया है कि कर्म और उनके प्रतिफल के संयोग का कर्ता ईश्वर नहीं है । कर्मों की व्यवस्था स्वयमेव होती रहती है* । जैन दर्शन कर्म-नियन्ता के रूप में ईश्वर को स्वीकार नहीं करता । क्योंकि इससे कर्म-नियम और ईश्वर दोनों का महत्त्व कम हो जाता है । अतः जैन दर्शन में आत्मा को कर्मों का कर्ता और भोक्ता माना है तथा वही आत्मा कर्मों से मुक्त होकर परमात्मा हो जाती है । अतः कर्म-नियामक और ईश्वर दोनों ही एक आत्मा की दो अवस्थाएँ हैं* । गीता में नैतिक आदर्श

और उपास्य के रूप में भी ईश्वर को स्वीकार किया गया है। पूर्ण वीतराग, निष्काम, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान परमात्मा गीता का नैतिक आदर्श है तो वही वीतराग एवं अनन्त चतुष्टय से युक्त परमात्मा जैन दर्शन की नैतिक साधना का भी आदर्श है^{१३}। ईश्वर स्वयं सर्वोच्च सत्ता और सर्वोच्च मूल्य है^{१४}। गीता और जैन दर्शन दोनों स्वीकार करते हैं कि नैतिक जीवन की पूर्णता ईश्वर के समान बनने पर ही प्राप्त होती है।

विश्व-संरचना एवं परमतत्त्व :

भारतीय दर्शनों में परमतत्त्व का सम्बन्ध विश्व-संरचना के सिद्धान्त से भी जुड़ा हुआ है। सृष्टि-रचना और ईश्वर के सम्बन्ध में जो विभिन्न मान्यताएँ प्रचलित हैं, उन्हें तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है - एक मान्यता परमेश्वर या ब्रह्म को ही अनादि, अनन्त मानती है। उसी ने अवस्तु से संसार की सभी वस्तुएँ बना दी हैं। अतः परमेश्वर निर्माता है। दूसरी मान्यता वाले विचारक कहते हैं कि अवस्तु से कोई वस्तु बन नहीं सकती। अतः जीव और अजीव वस्तुएँ तो सदा से हैं। उन्हें किसी ने नहीं बनाया। किन्तु इन वस्तुओं की विभिन्न अवस्थाओं को बनाना, बिगाड़ना परमेश्वर के हाथ में है। अतः परमेश्वर एक व्यवस्थापक के रूप में है। तीसरी मान्यता के विचारकों का कहना है कि संसार की चेतन और अचेतन वस्तुओं को न किसी ने बनाया है और न कोई परमसत्ता उनकी व्यवस्था करता है। अपितु, यह संसार वस्तुओं के गुण और स्वभाव में जो पारस्परिक स्वयमेव परिवर्तन होता है, उसी से संसार की व्यवस्था चलती रहती है, चलती रहेगी। अतः वीतराग ईश्वर को निर्माता एवं व्यवस्थापक मानने की आवश्यकता नहीं है। इस तीसरे विचार का समर्थन करने वालों में जैन धर्म के विचारक प्रमुख हैं। जैन धर्म की परमसत्ता सम्बन्धी इस विचारधारा को कुछ विस्तार से उसके मूल ग्रन्थों के आधार पर इस प्रकार देखा जा सकता है।

जैन धर्म में संसार के स्वरूप के सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टि से चिन्तन किया गया है^{१५}। यह लोक छह द्रव्यों से बना है। जीव, अजीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल - ये लोक अनादि-अनन्त हैं। अथवा इसे बनाने अथवा मिटाने वाला कोई ईश्वर आदि नहीं है। द्रव्यों में परिवर्तन स्वतः होता है, अतः गुण की अपेक्षा से द्रव्य "नित्य" है और पर्याय की अपेक्षा से वह "अनित्य" है। जैन दार्शनिकों ने वस्तु को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक कहा है। इन छह द्रव्यों में से जीव द्रव्य चेतन है और शेष पाँच द्रव्य अचेतन हैं। अतः मूलतः विश्व के निर्माण और संचालन में जीव और अजीव ये दो द्रव्य ही प्रमुख हैं।

जीव और अजीव इन दो परस्पर तत्त्वों में जो सम्पर्क होता है उससे ऐसे बन्धनों का निर्माण होता है, जिससे जीव को कई प्रकार की अवस्थाओं से गुज़रना पड़ जाता है। कई अनुभव करने पड़ते हैं। यह संसार है। यदि जीव एवं अजीव के सम्पर्क की धारा को रोक दिया जाये और सम्पर्क से उत्पन्न बन्धनों को नष्ट कर दिया जाये तो जीव अपनी शुद्ध एवं मुक्त अवस्था को प्राप्त हो सकता है। यह जीव का मोक्ष है। इस पूरी प्रक्रिया का संचालन करने वाले तत्त्व सात हैं - जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष^{१६}। इनमें पाप एवं पुण्य इन दो तत्त्वों को जोड़कर कुल नौ तत्त्व जैन दर्शन में माने जाते हैं। इनमें से जीव का सम्बन्ध जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा से है। पाप, पुण्य, आस्रव, एवं बन्ध कर्म-सिद्धान्त से सम्बन्धित हैं। संवर और निर्जरा के अन्तर्गत जैन धर्म की सम्पूर्ण आचार-संहिता आ जाती है। गृहस्थ और मुनिधर्म का विवेचन इन्हीं के अन्तर्गत होता है। अन्तिम तत्त्व "मोक्ष" दर्शन की दृष्टि से जीवन की वह सर्वोत्तम अवस्था है, जिसे प्राप्त करना प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति का अन्तिम लक्ष्य है। इसी के लिए आत्मसाक्षात्कार एवं ध्यान आदि की साधना की जाती है।

जैन दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति अपना द्वारा किये गये अच्छे-बुरे कर्मों के फल भोगने के लिये स्वयं जिम्मेदार है। प्राकृतिक और व्यावहारिक नियम भी यही है कि जैसा बीज बोया जाता है, उसका फल भी

वैसा ही मिलता है। जैन दर्शन ने यही दृष्टि प्रदान की कि अच्छे कर्म करने से सुख व बुरे कर्म करने से दुःख मिलता है। अतः व्यक्ति को मन में अच्छी भावना रखनी चाहिये, वाणी से अच्छे वचन बोलने चाहिये और शरीर से अच्छे कर्म करने चाहिये। आत्मा ऐसा करने के लिये स्वतन्त्र एवं समर्थ है। आत्मा ही दुःख एवं सुख का कर्ता एवं विकर्ता है। सुमार्ग पर चलने वाला आत्मा अपना मित्र है और कुमार्ग पर चलने वाला स्वयं का शत्रु है। यथा-

अप्या कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।

अप्या मित्तममित्तं च, दुप्पट्टियं सुपट्टिओ ॥^{१७}

जैन-कर्म-सिद्धान्त के प्रतिपादन से यह स्पष्ट हुआ है कि आत्मा ही अच्छे बुरे कर्मों का केन्द्र है। आत्मा मूलतः अनन्त शक्तियों का केन्द्र है। ज्ञान और चैतन्य उसके प्रमुख गुण हैं, किन्तु कर्मों के आवरण से उसका शुद्ध स्वरूप छिप जाता है। जैन आचार-संहिता प्रतिपादित करती है कि व्यक्ति का अन्तिम उद्देश्य आत्मा के इसी शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करना होना चाहिये, तब यही आत्मा परमात्मा हो जाता है। आत्मा को परमात्मा में प्रकट करने की शक्ति जैन दर्शन ने मनुष्य में मानी है। क्योंकि मनुष्य में इच्छा, संकल्प और विचार शक्ति है, इसलिये वह स्वतन्त्र क्रिया कर सकता है। अतः सांसारिक प्रगति और आध्यात्मिक उन्नति इन दोनों का मुख्य सूत्रधार मनुष्य ही है। जैन दृष्टि से यद्यपि सारी आत्मायें समान हैं, सब में परमात्मा बनने के गुण विद्यमान हैं, किन्तु उन गुणों की प्राप्ति मनुष्य जीवन में ही संभव है, क्योंकि सदाचरण एवं संयम का जीवन मनुष्य भव में ही हो सकता है। इस प्रकार जैन आचार-संहिता ने मानव को जो प्रतिष्ठा दी है, वह अनुपम है^{१८}।

मनुष्य की इसी श्रेष्ठता के कारण जैन धर्म में दैवीय शक्ति वाले ईश्वर का कोई महत्त्व नहीं रहा। जैन दृष्टि में ऐसा कोई व्यक्ति ईश्वर हो ही नहीं सकता, जिसमें संसार को बनाने या नष्ट करने की कोई इच्छा शेष हो। यह किसी भी दैवीय शक्ति के सामर्थ्य के बाहर की वस्तु है कि वह किसी भी द्रव्य को बदल सके तथा किसी व्यक्ति को सुख-दुःख दे सके। क्योंकि हर गुण स्वतन्त्र और गुणात्मक है। प्रकृति स्वयं अपने नियमों से संचालित है। व्यक्ति को सुख-दुःख उसके कर्म और पुरुषार्थ के अनुसार मिलते हैं। अतः जैन आचार-संहिता में ईश्वर का वह अस्तित्व नहीं है जो मुस्लिम धर्म में मुहम्मद साहब का तथा ईसाई धर्म में ईसा मसीह का है। हिन्दू धर्म का सर्वशक्तिमान ईश्वर भी जैन धर्म में स्वीकृत नहीं है, क्योंकि इससे मनुष्य की स्वतन्त्रता और पुरुषार्थ बाधित होते हैं^{१९}।

विश्व-संरचना में ईश्वर की भूमिका का निषेध जैनों की तरह सांख्यदर्शन में भी किया गया है। कुमारिल भट्ट एवं प्रभाकर मिश्र जैसे मीमांसक भी ईश्वर को निर्माता के रूप में स्वीकार नहीं करते, क्योंकि वे विश्व को अनादि मानते हैं, जैन एवं मीमांसकों ने निर्माता ईश्वर के अस्तित्व के निषेध के समान तर्कों का उपयोग किया है^{२०}। वैशेषिक दर्शन के प्रारंभिक ग्रन्थों में भी ईश्वर-स्वीकृति नहीं है। पतंजलि के योगसूत्र एवं गौतम के न्यायसूत्र में भी ईश्वर को एक योगी, आत्मा और सर्वज्ञ के रूप में देखा गया है। जैन दर्शन में भी मुक्त आत्मा को परमात्मा, आत्मा, सर्वज्ञ आदि कहा गया है। अतः सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि ईश्वर के सम्बन्ध में जैन धर्म एवं हिन्दू धर्म के प्राचीन ग्रन्थों में प्रायः समान चिन्तन प्रस्तुत किया गया है।

जैन धर्म में यद्यपि ईश्वर जैसी उस सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है जो संसार को बनाने अथवा नष्ट करने में कारण है, तथापि जैन आचार-संहिता आत्मा के उस शुद्ध स्वरूप के अस्तित्व को स्वीकार

करती है, जो अपने श्रेष्ठतम गुणों के कारण परमात्मा हो चुकी है। ऐसे अनेक परमात्मा जैन धर्म में स्वीकृत हैं, जो अनन्त सुखों का अनुभव करते हैं तथा इस संसार से मुक्त हैं। ऐसे परमात्माओं को जैन आचार-संहिता में “अर्हत” एवं “सिद्ध” कहा गया है। ये वे परम आत्माएँ हैं, जिन्होंने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर आत्मा के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार किया है। इन्हें “आप्त”, “सर्वज्ञ”, “वीतरागी”, “केवली” आदि नामों से भी जाना जाता है^{२१}। इन अर्हत एवं सिद्धों की भक्ति तथा पूजा करने का विधान भी जैन आचार-संहिता में है, किन्तु इनसे कोई सांसारिक लाभ की अपेक्षा नहीं की जाती। इनकी भक्ति उनके आध्यात्मिक गुणों को प्राप्त करने के लिये ही की जाती है, जिसके लिये भक्त को स्वयं पुरुषार्थ करना पड़ता है^{२२}। इस भक्ति से व्यक्ति की भावनाएँ पवित्र होती हैं, जिससे उसका आचरण निरन्तर शुद्ध होता जाता है, तथा आत्मा क्रमशः विकास को प्राप्त होती है। जैन आचार-संहिता की तीन कोटियाँ मानी गयी हैं। - १. “बहिरात्मा”, जो शरीर को ही आत्मा समझता हुआ सांसारिक विषयों में लीन रहता है, २. “अन्तरात्मा”, जो शरीर और आत्मा के भेद को समझता है तथा शरीर के मोह को छोड़कर आत्मा के स्वरूप को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, तथा ३. “परमात्मा” जिसने आत्मा के सच्चे स्वरूप को जान लिया है और जो अनन्त ज्ञान तथा सुख का धनी है। यथा -

अक्खाणि बाहिरप्पा अंतरप्पा हु अप्पसंकप्पो ।
कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो ॥^{२३}

आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा के इस विकास मार्ग का प्रतिपादन किया था^{२४}, जिसका अनुगमन अन्य जैनाचार्यों ने किया है। अन्य भारतीय दर्शनों में भी आत्मा के विकास के इन स्वरूपों को विभिन्न नामों से वर्णित किया गया है। उपनिषदों में आत्मा के ज्ञानात्मा, महदात्मा और शुद्धात्मा ये तीन भेद किये गये हैं। दूसरे शब्दों में शरीरात्मा, जीवात्मा और परमात्मा भी आत्मा की अवस्थाएँ बतायी गयी हैं।

परमतत्त्व के नाम एवं गुण :

जैन धर्म में परमतत्त्व मुक्त आत्मा को माना गया है। उनकी अवस्थाओं और गुणों के कारण उन्हें अर्हन्त, सिद्ध, केवली, जिन, तीर्थंकर, आप्त, सर्वज्ञ, परमात्मा, वीतराग आदि नामों से जाना जाता है। इन सब में प्रमुख गुण समान हैं कि वे मुक्त अवस्था में होने के कारण सभी दुःखों से रहित हैं। उनमें १००८ लक्षण शास्त्रों में गिनाये गये हैं^{२५}। किन्तु उनके ४ प्रमुख गुण-अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र, एवं अनन्त वीर्य प्रसिद्ध हैं^{२६}। इन गुणों के साथ तुलना करने पर ज्ञात होता है कि हिन्दू धर्म के ईश्वर, ब्रह्म या परमात्मा में भी ज्ञान, शक्ति, माहात्म्य, गौरव आदि गुण स्वीकार किये गये हैं^{२७}। क्योंकि ईश्वर की उपास्यता बिना गुणों के हो नहीं सकती है। पाश्चात्य दर्शनों में भी ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, पूर्णज्ञान, इच्छा स्वातन्त्र्य, नित्य एवं शुभत्व आदि गुणों से युक्त मानने की बात कही गयी है। यद्यपि ईश्वर सम्बन्धी गुणों का कथन असंज्ञानात्मक ही होता है^{२८}। फिर भी भारतीय दर्शनों में ईश्वर को अपरिमित गुणों का भण्डार माना गया है। जैन ग्रन्थों में भी तीर्थंकर के कई अतिशय उनकी विशिष्टता के रूप में वर्णित हैं^{२९}। कुछ जैन ग्रन्थों में परमात्मा के गुणों का वर्णन अभावात्मक दृष्टि से भी किया गया है। मुक्तात्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न कृष्ण है, न श्वेत है, न गुरु है, न लघु है, न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है^{३०}। अतः परमात्मा का स्वरूप अनिर्वचनीय है। शांकर सिद्धान्त का नेति, नेति और पाश्चात्य विचारक अक्वाइनस का नकारात्मक सिद्धान्त^{३१} जैन दर्शन के अभावात्मक दृष्टिकोण से समानता रखते हैं। इनसे यह अनुभव किया जा सकता है कि परमसत्ता के गुणों एवं नामों की सार्थकता उन्हें प्रतीकात्मक रूप में स्वीकार करने में है। इससे चिन्तन के क्षेत्र में समन्वय को बल मिलता है। जैन दर्शन की मान्यता है कि निश्चय

नय के अनुसार परमात्मा शुद्ध चैतन्यमय है। उसके गुणों का बखान करना व्यावहारिक नय से संभव है। उसकी उपासना हम विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से करते हैं, जो उसके गुणों का स्वयं साक्षात्कार करने के लिए होती है। उमास्वामी ने ठीक ही कहा है कि "मैं उस परमात्मा को नमन करता हूँ जो मोक्षमार्ग का नेता है, कर्मरूपी पर्वतों को नष्ट करने वाला है और विश्व के समस्त तत्त्वों का ज्ञाता है, ताकि मैं उसके गुणों का साक्षात्कार कर सकूँ।" यही बात पाश्चात्य दार्शनिक पालनीलिख स्वीकार करते हैं कि परमसत्ता वर्णविहीन, शुद्ध उजला पर्दा है। इसे लिखा तो जा सकता है, परन्तु इसका वर्णन नहीं किया जा सकता^{३२}।

परमसत्ता के लिए प्रयुक्त नामों का जैन एवं हिन्दू धर्मों में समान रूप से प्रयोग हुआ है। हिन्दू धर्मों में प्रयुक्त जगस्वामी, ज्ञानी, हरि, हर, ब्रह्मा, पुरुषोत्तम आदि सैकड़ों नाम जैन तीर्थकरों के लिए प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु इन नामों को प्रतीकों के रूप में लिया गया है। जिसके स्मरण से गुणों की वृद्धि हो वह "ब्रह्म" है, जिस आत्मा का ब्रह्मचर्य अखण्डित रहा है वह "परमब्रह्म" है, केवल ज्ञान आदि गुणों के ऐश्वर्य से युक्त होने के कारण आत्मा "ईश्वर" है, वह समस्त कर्मों के मल से रहित होकर, आठ गुणों के "ऐश्वर्य" को धारण करता है इसलिए "परमेश्वर" है, आत्मा स्वदेह में व्याप्त होने के कारण "विष्णु" है। स्वयं ही अपने विकास का कारण है इसलिए "स्वयम्भू" है^{३३}। आदिपुराण में प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव को "हिरण्यगर्भ", "ब्रह्मा", "प्रजापति" आदि विशेषण प्रदान किये गये हैं, जो उनके विभिन्न गुणों के सूचक हैं। इसी तरह वैदिक ग्रन्थों में भी जैन तीर्थकरों के कई नामों को विष्णुसहस्रनाम आदि में सम्मिलित किया गया है। अतः परमसत्ता के निरूपण में समन्वय की एक धारा का अवलोकन जैन एवं हिन्दू धर्मों के साहित्य में किया जा सकता है। दोनों धर्मों में परमात्मा के नामों में उपर्युक्त समानता होते हुए कुछ अन्तर भी है। किन्तु यहाँ नामों का महत्त्व नहीं है, गुणों का महत्त्व है इसीलिए एक जैन सन्त ने कहा है कि मैं उस परमतत्त्व को सदा नमन करता हूँ जो रागद्वेष जैसे आत्मा को दूषित करने वाले विष से रहित है, अनुकम्पा से भरा हुआ है और समस्त गुण-समूहों से पूर्ण है, चाहे वह विष्णु हो, शिव हो, ब्रह्मा हो, सुरेन्द्र हो, सूर्य हो, चन्द्र हो, भगवान् हो, बुद्ध हो या सिद्ध हो^{३४}।

परमतत्त्व की प्राप्ति के मार्ग :

जैन एवं हिन्दू धर्म में केवल परमतत्त्व के स्वरूप, उसके गुण एवं उसके नामों ही में समानता नहीं है, अपितु उस परमतत्त्व को प्राप्त करने, अनुभव करने के मार्गों में भी प्रायः एकरूपता दृष्टिगोचर होती है। जैनधर्म में तत्त्व निरूपण द्वारा लोक के स्वरूप का विवेचन करके तथा कर्म सिद्धान्त के प्रतिपादन द्वारा मनुष्य में संकल्प और पुरुषार्थ की जागृति करके उसे आत्मा साधना का जो मार्ग बतलाया गया है, वही जैन आचार-संहिता का प्रथम सोपान है। जैनाचार्य उमास्वामी ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्र्य इन तीनों को मोक्ष का मार्ग कहा है।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः

मोक्ष मार्ग में इन तीनों की प्रधानता होने से इन्हें "त्रिरत्न" भी कहा गया है। इन तीनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है^{३५}। सम्यग्दर्शन आत्म-साधना का प्रथम सोपान है। जीव, अजीव आदि तत्त्वों के स्वरूप पर श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इससे व्यक्ति का दृष्टिकोण सही बनता है। सम्यग्दर्शन के उपरान्त साधक सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति करता है। जिन तत्त्वों पर उसने श्रद्धान किया था, उन्हीं को वह पूर्ण रूप से जब जानता है, तब उसे सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होती है। सत्य की अखण्डता को आदर देते हुए उसके बहुआयामों को जानने का प्रयत्न करना ही सम्यग्ज्ञान का विषय है^{३६}। जैन ग्रन्थों में सम्यग्चारित्र्य का विवेचन गृहस्थों और साधुओं की जीवनचर्या को ध्यान में रखकर किया गया है। साधु जीवन के आचरण का प्रमुख उद्देश्य आत्म-साक्षात्कार है, जबकि गृहस्थों

के चारित्र-विधान में व्यक्ति एवं समाज के उत्थान की बात भी सम्मिलित है। इस प्रकार निवृत्ति एवं प्रवृत्ति दोनों का समन्वय इस त्रिरत्न सिद्धान्त में हुआ है। जैन धर्म के समान अन्य भारतीय दर्शनों में भी परमसत्ता की प्राप्ति के लिए त्रिविध साधना मार्ग को अपनाया गया है। बौद्ध दर्शन में शील, समाधि और प्रज्ञा की साधना से निर्वाण की प्राप्ति बतायी गयी है। गीता में ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग को प्रमुखता दी गयी है। वैदिक परम्परा में वर्णित श्रवण, मनन और निदिध्यासन साधना का जो विधान है^{३०}, उसका जैन धर्म के दर्शन, ज्ञान, चारित्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है। परमात्मा की प्राप्ति के इस त्रिमार्ग से पाश्चात्य विचारक भी सहमत हैं, जहाँ स्वयं को जानों, स्वयं को स्वीकार करो और स्वयं ही बन जाओ - ये तीन नैतिक आदर्श कहे गये हैं^{३१}। इन साधना के मार्गों में समानता खोजने से परमसत्ता के स्वरूप एवं उसकी अनुभूति में भी समानता के दर्शन हो सकते हैं। क्योंकि अन्त में जाकर साधक, साधना-मार्ग और साध्य इनमें कोई अन्तर नहीं रह जाता। जैनाचार्य कहते हैं आत्मा ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। जब वह अपने शुद्ध रूप में प्रकट होती है तब वह परमात्मा कहलाती है। वहाँ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद मिट जाता है। "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" का आदर्श सार्थक हो जाता है। इसे डॉ० राधाकृष्णन - "अध्यात्मवादी धर्म"—रिलिजन ऑफ द सुप्रीम स्पिरिट—कहते हैं। जैन धर्म में इस परमसत्ता की स्थिति को पूज्यपाद ने इस प्रकार स्पष्ट किया है कि जो परमात्मा है वह मैं हूँ, जो मैं हूँ वही परमात्मा है। मैं ही मेरे द्वारा उपास्य हूँ, दूसरा कोई नहीं^{३२}। इस शुद्ध स्वरूप की स्थिति को शंकर ने इस प्रकार व्यक्त किया है-

न बन्धुर्न मित्रं गुरु(नै)व शिष्यः ।

चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहं ॥

इस प्रकार जैन एवं हिन्दू धर्म में ईश्वर की अवधारणा आत्मा, मोक्ष और परमात्मा से जुड़ी हुई है। इन तीनों के वास्तविक स्वरूप की जानकारी से ही परमतत्त्व की प्राप्ति का लक्ष्य निर्धारित किया जाता है। परमतत्त्व दोनों धर्मों में नैतिक मूल्यों की पूर्ति हेतु एक आदर्श के रूप में है। व्यावहारिक दृष्टि से भले ही ईश्वर संसार का निर्माता, व्यवस्थापक एवं कारुणिक दिखायी देता हो, किन्तु परम समाधि की दशा में वह शुद्ध चैतन्य, ज्ञान एवं आनन्दरूप है। उस परमतत्त्व के विभिन्न नाम दोनों धर्मों में प्रायः समान हैं और जहाँ नामों की भिन्नता, दृष्टिगत होती है, वहाँ वे नाम परमात्मा के जिन गुणों के प्रतीक हैं, वे प्रायः दोनों धर्मों को स्वीकार्य हैं। ईश्वर के गुणों की संख्या में जैन और हिन्दू धर्म में भिन्नता हो सकती है, किन्तु परमात्मा के मूल गुण प्रायः समान हैं कि वह सर्वथा दुःखों से मुक्त है, चेतन, ज्ञान और आनन्दमय है। वह अपनी परमसत्ता को छोड़कर पुनः सांसारिक बन्धनों में नहीं फँसता। इन दोनों धर्मों में परमात्मा की प्राप्ति के साधनों में भी समानता है, केवल नामों का अन्तर है। ऐसे परमतत्त्व का उपयोग संसारी आत्मा उसकी उपासना द्वारा अपने विकास के लिए करता है ताकि एक दिन वह भी उसी के समान बन जाय।

इस आत्म-विकास के मार्ग में जिन नैतिक आदर्शों का पालन किया जाता है वे मानवता की रक्षा एवं प्राणीमात्र के कल्याण के लिए भी उपयोगी हैं। उपासनामूलक धर्म से जब हिन्दू धर्म समाधिमूलक धर्म की कोटि में आता है तब वह जैन धर्म के निकट हो जाता है। परमसत्ता की अवधारणा और उसकी प्राप्ति के उपाय दोनों को अधिक नज़दीक लाते हैं। किन्तु आचार पक्ष और उपासना पक्ष में ये दोनों धर्म अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। जीवन में अहंभाव और ममत्व को त्याग करने का प्रयत्न करना, विचारों में उदारता रखते हुए आग्रह नहीं करना, व्यक्तिगत जीवन के लिए अधिक संग्रह नहीं करना और सामाजिक जीवन में प्राणी-रक्षा को प्रमुखता देना मानव-जीवन के वे मूल्य हैं जो विश्व में शांति और संतुलन बना सकते हैं। इनको पालन करने के लिए जैन एवं हिन्दू धर्म दोनों प्रेरणा देते हैं। इस जीवन-पद्धति से ही परम तत्त्व की प्राप्ति का मार्ग उजागर होता है।

सन्दर्भ :

१. बृहदारण्यक उपनिषद् २.४.८., आचारसंगसूत्र ४.४.७४.
२. हनुयन्नाटकम्, दामोदर मिश्र १/३.
३. श्रीमद् भगवद्गीता, ११.२८., मुण्डकोपनिषद् ३.२.८.
४. लाड, ए. के., भारतीय दर्शनों में मोक्ष-चिन्तन - एक तुलनात्मक अध्ययन, भोपाल १९७३, पृ० २९७-२९८.
५. इतिवृत्तक, २.७.
६. समयसारटीका, अमृतचन्द्र ३०५, योगशास्त्र, हेमचन्द्र ४.५.
७. समाधिशातक, श्लोक ६.
८. ऋग्वेद १०.७१.५ - यास्क व्याख्या.
९. श्वेता. उप. ६.१.
१०. गीता, ७.२२.
११. गीता, ५.१५.
१२. शास्त्रवार्त्तासमुच्चय, कर्त्ता, हरिभद्र, २०७.
१३. जैन, सागरमल, जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, जयपुत् १९८२, पृ. ४४६.
१४. *The Idea of Immortality*, p. 290 पश्चिमोदर्शन, पृ. २६७.
१५. P. S. Jaini, *The Path of Purification* p. 89-106.
१६. तत्त्वार्थसूत्र अ. १ सूत्र ४ सम्पा. सुखलाल संघवी, वाराणसी १९५२.
१७. उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २०, गा. ३७.
१८. K. C. Sogani, *Ethical Doctrines in Jainism* p. 74.
१९. महेन्द्र कुमार जैन, जैन दर्शन, वाराणसी ?
२०. G. V. Tagore, 'Concept of the Deity in Early Jainism : A Comparative view' article published in *Tulsiprajña*, Vol. XV, No.1 (June, 1989) p. 43.
२१. Dayanand Bhargav, *Jaina Ethics*, p. 26.
२२. उपाध्ये, ए. एन., सम्पा. "भूमिका", परमात्मप्रकाश, बम्बई, पृ. ३६.
२३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा. १९३-१९८ बम्बई.
२४. मोक्खपाहुड, कर्त्ता कुन्दकुन्द, गा. ५.
२५. जिनसहस्रनाम, कर्त्ता आशाधर, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, जम्बूद्वीपपण्णत्ति, १३, ८८-९२.
२६. नियमसार, गा. ७२, पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, ६०४.
२७. A. N. Dwivedi, *Essentials of Hinduism, Jainism and Buddhism*, Books Today, New Delhi 1979, p. 70.
२८. याकूब मसीह, समकालीन दर्शन, पटना १९८४, पृ. १०९.
२९. तिलोयपण्णत्ति, ४, गा. ९८८-९०६, समवायांगसूत्र, १११ समवाय.
३०. आचारसंगसूत्र, १.५.६.१७१.
३१. Cf. *Thomas Aquinas; Selected Writings*; ed. Robert P. Goodwin, Indianapolis 1965.
३२. Cf. *Systematic Theology* (Paul Tillich) in 3 Vols., Chicago University Press, Chicago 1951, 1957, 1963.

३३. देखें - दामोदर शास्त्री, भास्तीय दर्शन परम्परायां जैन दर्शनाभिमतं देवतत्त्वम्, वाराणसी १९८५, पृ. ३२९ आदि ।
३४. T. K. Tukol, *Compendium of Jainism*, p. 72.
३५. सर्वार्थसिद्धि, सम्पा. पं. फूलचन्द शास्त्री, पृ. ५.
३६. प्रेम सुमन जैन, जैन आचार-संहिता और मानव-कल्याण, पृ. ९.
३७. क. बृहदारण्यक उपनिषद्, ४.६,
 ख. T. R. V. Murti, 'The Hindu Conception of God' in *God-The contemporary Discussion* (ed.) Frederick Sontag & M. Darrol Bryant, New york, 1982, p. 27.
३८. J. A. Headfield, *Psychology and Morals*, 1036, p. 180.
३९. यः परत्मा स एवाऽहं, योऽहं स परमस्ततः ।
 अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥ -इष्टोपदेश, कर्ता देवनन्दी
-